उपरोक्त तीनो खण्डो व प्रत्येक व्रत की विस्तृत व्याख्या की गई है जिससे उनके पालन की अनिवार्यता और व्यावहारिकता स्पष्ट रूप से मालूम हो जाय। इन्ही व्रतों को साधन-निधि के नाम से कहा गया है। वस्तुत ये व्रत सभी साधको लिए सभी साधनों के निचोड के रूप में प्रस्तुत हैं, जो सभी के जीवन को, सभी के लिए उपयोगी बनाने में समर्थ हैं। कभी कभी साधक अपने जीवन के लक्ष्य का ही निर्धारित करने मे कठिनाई अनुभव करने लगता है, क्योंकि लक्ष्य की अपूर्ति की दशा में लक्ष्य-पूर्ति के जीवन का अनुभव तो होता नही, अपनी माँग के आधार पर लक्ष्य को बिना देखे, बिना अनुभव किये स्वीकार करना पडता है। दुखी के लिए दुख-निवृत्ति, अशान्त के लिए शान्ति, पराधीन के लिए स्वाधीनता

साधन-निधि



मानव सेवा संघ प्रकाशन

जायगा, अर्थात् वह योग, बोध तथा प्रेम से परिपूर्ण होकर कृतकृत्य हो जायगा। इस प्रकार के विकसित जीवन से सेवा के द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होने लगता है। सारांश यह कि सेवा, त्याग और प्रेम, जो मानव-जीवन का सुन्दरतम चित्र है, उसका वह मूर्तिमान् प्रतीक हो जायगा।

'साधन-निधि' सब दार्शनिक दृष्टिकोणों एवं सब साधन प्रणालियों का वह व्यावहारिक रूप (Practical form) है जिसे प्रत्येक साधक को अपनाना अनिवार्य है। 'साधन निधि' एक ऐसा निबन्ध है कि विकास के किसी स्तर के साधक को अपना अगला कदम दिखाई देता है और उसे अपनाकर वह आगे बढ़ सकता है।

जगत को सत्य मानें, मिथ्या मानें,

साधन-निधि

कुछ अन्तर नहीं आता। उसकी सत्ता की स्वीकृति, श्रद्धा एवं विश्वास पूर्वक उससे अपनी आत्मीयता स्वीकार कर उसके शरणागत हो जाना, उसी के दिये हुए प्रेम से उसको रस प्रदान करना, जीवन को उसके लिए उपयोगी बनाने का अचूक उपाय है।

अतः यह निबन्ध साधन में सफलता के लिए एक हस्त-पुस्तिका (Manual) के रूप में प्रस्तुत है। बिना और कुछ पढ़े भी इसका अनुसरण किया जा सकता है और बहुत कुछ पढ़ने के बाद भी निचोड़ के रूप में सभी आवश्यक मुख्य बातों को थोड़े में जाना जा सकता है। इस निबन्ध में कोई नई बात नहीं है। मानव सेवा संघ द्वारा मानव जीवन के जिन मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन हो चुका है, उन्हीं

परिचय

साधन-निधि साध्य का स्वभाव और
क का जीवन है । इसमे मानव-जीवन के
: और उस पर आधारित अध्यात्म
ान, आस्तिक विज्ञान एव कर्तव्य विज्ञान
ववेचन का सार लेकर यह दिखाया गया
र मानव जीवन की सर्वश्रेष्ठ निधि क्या
जससे उसे सम्पन्न होना है ।

साधक मे यह प्रश्न उठता है कि मुझ
करना है । उसी प्रश्न का उत्तर है
न निधि, जिसमें साधक मात्र के लिये
ाय बातो का एक जगह पर सिलसिले
ढग से प्रस्तुत कर दिया गया है ।
क बडी ही सुगमतापूर्वक उन्हें ग्रहण
के साधन निधि से सम्पन्न हो सकता
।

साधन-निधि

मानव-मात्र जन्मजात साधक है। अत उसे साधन निधि से सम्पन्न होना अनिवार्य है। मानव उसे नहीं कहते जिसकी कोई माँग न हो और जिस पर कोई दायित्व न हो। मिले हुए शरीर का नाम मानव रखना भूल है, कारण कि शरीर कम-सामग्री है और कुछ नहीं। 'म हूँ' यह स्वीकृति मानव-मात्र की मूल स्वीकृति है। अपने को अस्वीकार करना सम्भव नहीं है। 'म क्या हूँ' 'इस सम्बन्ध मे अनेक मत भले ही हों, पर 'म हूं और मुझ में ही माँग है' इस म दो मत नही ह और यह मानव-मात्र को स्वीकार है। यह नियम है कि जिसमें माँग होती है, उस पर

जो अपना मानने योग्य नहीं है, उसको अपना मानने से जडता, आसक्ति, बन्धन, पराधीनता और मृत्यु का भय सताता है और जगतपति जो अपने है, उनको अपना न मानने से अनाथपन, नीरसता और खिन्नता आती है। ठीक इनके विपरीत यदि जगत को अपना मानना छोड दें तथा जगतपति को अपना मान लें तो सर्वतोमुखी विकास आरम्भ हो जाता है और विकसित जीवन ही सब के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

प्रस्तुत निबन्ध में जीवन को अपने लिए, जगत् के लिए तथा जगतपति के लिए उपयोगी बनाने के दस व्रतों की आवश्यकता बताई गई है जो निम्न लिखित हैं

(क) जीवन को अपने लिए उपयोगी बनाने के उपाय

(१) निर्मम होना।

सम्पन्न हो कर सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। यही मानव-जीवन की पूर्णता है। इस दृष्टि से मानव-जीवन की बड़ी ही महिमा है। यह महिमा उसे अपने रचयिता से मिली है। अत उस महिमा-वान की महिमा का कोई वारापार नही है, जिसने मानव का निर्माण किया है। मानव अपने को जब तक साधक स्वीकार नही करता, तभी तक अनुपयोगी रहता है। इस दृष्टि से मानव-मात्र अपने को साधक स्वीकार करे, यह अनिवार्य है। स्वीकृति के अनुरूप ही प्रकृति सहज तथा स्वाभाविक होती है। साधक की स्वीकृति में असाधन की निवृत्ति तो है ही, अत असाधन-रहित साधन ही वास्तव में साधन-निधि है। असाधन के साथ-साथ भासित होने वाला साधन साधन नही है, यद्यपि प्राकृतिक

सब उपयोगी हो सकते हैं। जब तक मानव मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि को अपनी मानता है तथा अपने लिए मानता है, तब तक भूल-रहित नहीं हो सकता। भूल के रहते हुए तो मानव अनुपयोगी ही रहता है। अतः भूल-रहित होना अनिवार्य है। यह किसी का अनुभव नहीं है कि जिसे जो मिला है, उस पर उसका स्वतन्त्र अधिकार हो जाय, कारण कि मिला हुआ सदैव ही उसका है जो उसका अपना नहीं है।

जो अपना नहीं है, वह अपने लिए हो ही नहीं सकता। उसका उपयोग दाता के नाते प्रतीत होने वाले जगत के प्रति ही हो सकता है। दाता कौन है? इसमें अनेक मत भले ही हों, पर मिला हुआ अपना नहीं है, इसमें दो मत नहीं हैं। इतना ही नहीं,

कि जो साधक को जडता में आवद्ध रहने
नही देता। कामना पूर्ति-काल में मानव
पाधीन होकर भी सुख का अनुभव करता
यह क्या प्रमाद है। इस प्रमाद का
न करने के लिए ही दुःख का प्रादुर्भाव
ता है, किन्तु दुःख के प्रभाव को न अपना
र कामना-पूर्ति जनित पराधीनता को
नाये रखने की अभिरुचि क्या अपने ही
रा अपना विनाश करना नहीं है?
वश्य है। वे शुभ कामनायें जो मिली हुई
स्तु, योग्यता और सामर्थ्य के द्वारा दूसरो
अधिकार की रक्षा में हेतु हैं उनकी पूर्ति
तमान कर्त्तव्य-कर्म द्वारा हो सकती है।
किन्तु उसके बदले में अपने लिए कुछ भी
चाहिए तो साधक निष्काम नही हो
सकता। निष्काम कर्त्ता से ही कर्त्तव्य-पालन
होता है। इस दृष्टि से साधक के जीवन

दुरुपयोग से ही समाज मे संघर्ष होने लगता है। मिले हुए का दुरुपयोग मानव तभी करता है जब वह उसे अपना और अपने लिए मानता है। यह मान्यता सर्वथा भूल जनित है। भूल रहित होना मानव मात्र के लिये अनिवार्य है, कारण कि भूल से ही मानव अनुपयोगी हुआ है और भूल-रहित होने से वह स्वतः सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। किसी भी भूल को अपना लेने पर अनेक भूलें उत्पन्न होती हैं, अथवा यों कहो कि एक ही भूल अनेक रूप धारण कर मानव को अनुपयोगी कर देती है। भूल प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु मानव अपने अनुभव के अनादर से ही भूल को उत्पन्न करता है। इस कारण भूल-रहित होने का दायित्व मानव ही पर है। यद्यपि मानव के रचयिता ने भूल-रहित होने

सुख दुख मे अतीत के जीवन म प्रवेश सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। इस कारण निष्कामता को अपनाना प्रत्येक साधक के लिए अनिवाय है।

भल से उत्पन्न हुई कामनाओ का अत भूल रहित होने से ही सम्भव है, किसी अभ्यास से कामनाओ का नाश नही होता। अभ्यास के लिए तो देह का आश्रय लेना अनिवाय होता है और देह के आश्रय-मात्र से ही कामनाओ की उत्पत्ति होती है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि तप आदि से कामनाओ का नाश नही होता। तप से शक्ति आदि की उपलब्धि होती है, किन्तु निष्कामता एक-मात्र सतसग से ही प्राप्त होती है। इस कारण प्रत्येक साधक के लिए सतसग के प्रकाश मे अपने को सदैव रखना अत्यन्त आवश्यक है। सतसग

उस मानव स्वयं स्वाधीनतापूर्वक कर सकता है। निर्मम शब्द के उच्चारण में भले ही श्रम तथा काल अपेक्षित हो, पर निर्मम होने में किसी प्रकार के श्रम तथा काल की अपेक्षा नहीं है। अत मानव स्वयं वर्तमान में ही निर्मम हो सकता है, कारण कि निर्ममता मानव के निजी ज्ञान के प्रभाव का परिणाम है। जिसकी उपलब्धि निजी ज्ञान से सिद्ध होती है उसके लिए कोई अभ्यास अपेक्षित नही होता। यह ज्ञान की महिमा है। प्रत्येक मानव को निजी ज्ञान से यह सिद्ध है कि मिला हुआ शरीर उसका अपना नहो है और न वह अपने लिये ही है। इस ज्ञान का प्रभाव साधक को अपनाना है। ममता करने मात्र से ही अपने उद्देश्य की पूर्ति

मूल है। इस कारण प्रत्येक साधक के लिए शीघ्रातिशीघ्र कामनाओं का नाश करना अत्यन्त आवश्यक है। यह कैसा आश्चर्य है कि जिसे मानव स्वयं कर सकता है, उसे न करे। क्या यह अपने ही द्वारा अपना विनाश करना नहीं है? अपने विनाश का कारण दूसरों को मानना और अपने द्वारा स्वयं निष्काम न होना तथा अपने और दूसरों के बीच वैरभाव उत्पन्न करना क्या साधक की अपनी ही भूल नहीं है? अवश्य है। निष्काम होते ही निर्वैरता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वतः अभिव्यक्त होते हैं। योग, बोध और प्रेम से विमुख करने में कामना ही हेतु है। निष्कामता से चित्त स्वतः शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ होता है, जिसके होते ही कर्त्तव्य-परायणता तथा योग की प्राप्ति स्वतः होती है।

ज्ञान को अपने लिए न मान कर मिली हुई योग्यता, वस्तु एव सामर्थ्य को अपने लिए मानता है, तब ममता उत्पन्न होती है। इस कारण यह अनिवार्य हो जाता है कि प्रत्येक साधक निजी ज्ञान के द्वारा वतमान में ही निमम हो जाय। निमम होते ही स्वत निष्काम होने की सामर्थ्य आ जाती है। जब मिला हुआ शरीर अपना नही है तब किसी भी वस्तु, अवस्था और परिस्थिति की आवश्यकता अपने लिए नही रहती।

कामना साधक को किसी न किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से बाँध देती है। प्राकृतिक नियमानुसार सभी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि म सतत् परिवतन हो रहा है। यह भी निजी ज्ञान से ही सिद्ध है। सतत् परिवतन में स्थिति स्वीकार करना भूल है।

स्वत होती है। इस दृष्टि से अधिकार देने में ही अधिकार है। अधिकार-लोलुपता तो मानव को राग में आबद्ध तथा क्रोध स आक्रान्त करती है, जो विनाश का मूल है।

जब मिले हुए शरीर पर ही अपना स्वतन्त्र अधिकार नही है, तो फिर उसी की जाति का जो ससार है, उस पर अधिकार मानना भूल के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? हा, अपने पर शरीर और समार का यह अधिकार अवश्य है कि उसके प्रति निमम तथा निष्काम होकर उसके हित चिन्तक बने रहें, अर्थात आलस्य, अकमण्यता, असयम आदि से शरीर का अहित न करें और शरीर के द्वारा समाज का अहित न करें। यह तभी सम्भव होगा जब मानव शरीर आदि वस्तुओं को केवल साधन मामग्री के रूप में ही स्वीकार करे।

और दसव आधय तथा प्रधाशव उसे हप-पूर्वव अपनाते ह । इस दृष्टि से साधक वे जीवन में हार मार लेने थयवा निराश होने व लिए बोई स्यान ही नहीं है । अल्प स अल्प आयु तथा सामथ्य क्यो न रह जाय, वास्तविकता की उत्कट माँग की जागृति में सफलता अनिवाय है । यह साधक व जीवन की महिमा है, जो उसे उसके रचयिता ने अपनी अहेतुकी कृपा से प्रेरित होकर प्रदान की है । मिली हुई महिमा का आदर करो और उस महा महिमावान को अपना स्वीकार करो, यही सफलता की कुञ्जी है ।

ममता का सर्वांश में अन्त होते ही कामनाओं का नाश सुलभ हो जाता है, कारण कि मिले हुए शरीर और देखे हुए जगत म जातीय एकता है । जिस

उपेक्षा नहीं है, अपितु सभी के प्रति सद्-भावना रखते हुए अपने अधिकार के भार से मुक्त कर सभी को अभय करना है। अधिकार के भार से दबा हुआ समाज भयभीत होकर स्वयं अधिकार-लोलुपता में आबद्ध हो जाता है। ज्यों ज्यों अधिकार लोलुपता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों कर्त्तव्य की विस्मृति होती जाती है और अनेक पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। इस कारण प्रत्येक साधक को शीघ्रातिशीघ्र अपने को अधिकार लालुपता से रहित करना अनिवार्य है। कर्त्तव्य-परायणता अर्थात् दूसरों के अधिकार की रक्षा से दीर्घ काल के राग की निवृत्ति स्वत हो जाती है और अपने अधिकार का त्याग करने से नवीन राग उत्पन्न नहीं होता है। अत इस प्रकार साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक

अपने ही द्वारा अपने को हो सके। जब मानव के रचयिता ने उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति की स्वाधीनता दी है, तो फिर उसे शरीर आदि किसी पर भी अपना अधिकार मानना अपेक्षित नहीं है। अपना अधिकार न मानने पर भी साधक के प्रति समस्त विश्व की उदारता सतत रहती है। पर उसका अर्थ यह नहीं है कि साधक अपने प्रति दूसरों की उदारता बनाये रखने के लिए अपने अधिकार का त्याग करे। अधिकार का त्याग किये बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में साधक का प्रवेश ही नहीं होता और स्वाधीनता के बिना जगत के प्रति उदारता तथा जगतपति के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव होता नहीं, जो वास्तविक जीवन है।

यह सभी को मान्य होगा कि उदारता,

अपना है कि उसे यह अनुभव ही नहीं होने देता कि प्राप्त ज्ञान उसका अपना नहीं है। यह मानव के प्रति अनन्त की आत्मीयता है किन्तु मानव प्रमादवश जो उसे अपना मानता है, उसे वह अपना नहीं मानता, अपितु उससे मिली हुई वस्तु, योग्यता सामर्थ्य आदि को अपना मान लेता है। प्राप्त ज्ञान का प्रकाश मिली हुई सामर्थ्य, वस्तु, योग्यता आदि से सम्बन्ध विच्छेद करने की प्रेरणा देता है अर्थात् वास्तविकता को स्पष्ट करता है। वास्तविकता को अपनाते ही अपना करके वही सिद्ध होता है, जो अपने को जानता है। साधक जिसको जानता है, वह उसका अपना नहीं है, अपने लिए नहीं, है, यही सिद्ध होता है।

कैसी विचित्र बात है कि अपने वे हैं, जिन्हें हम नहीं जानते, अपितु जो

साधक अपने अधिकार को त्याग दूसरो के अधिकार की रक्षा करता रहे। साधक का जीवन साधन निष्ठ होने पर स्वतः विभु हो जाता है पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक अपने लिए उपयोगी हो जाय। पराधीनता के रहते हुए अपने लिए उपयोगी होना सम्भव नहीं है। स्वाधीनता एकमात्र अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार के देने ही में है।

स्वाधीनता वर्त्तमान की माँग है और उसे साधक स्वाधीनता-पूर्वक ही प्राप्त कर सकता है। ज्यों ज्यों स्वाधीनता की माँग सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों पराधीनता के नाश करने की सामर्थ्य साधक को मंगलमय विधान से स्वतः प्राप्त होती है। पराधीनता सहन करने के समान मानव की और कोई भारी भूल नहीं है

किंतु प्रमाद के कारण आज हमें जगत और जगतपति से भिन्नता प्रतीत होती है । इस भिन्नता का अन्त किए बिना जीवन उपयोगी नहीं हो सकता । जब हम जगत से कुछ आशा करते हैं, तब जगत से भिन्नता प्रतीत होती है और जब जगतपति में हमारी अगाध प्रियता नहीं रहती, तब उनसे हमारी भिन्नता प्रतीत होती है। यदि विचार पूर्वक जगत से आशा न करें और मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य जो जगतपति ने जगत की सेवा के लिए दी है वह उसी की सेवा में अर्पित कर दें, तो शरीर आदि से असंगत और जगत से अभिन्नता स्वतः हो जायगी, जिसके होते ही शरीर और विश्व की एकता स्वतः सिद्ध होगी। शरीर और विश्व की एकता का अनुभव हमें जगतपति से नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता

पराधीनता से उत्पन्न मान और भोग की रुचि की पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करता है, जो वास्तव में भूल है, अर्थात् भूलकाल में ही अपने लिए कुछ करने की बात मानव स्वीकार करता है। जीवन उपयोगी हो जाय, यह तभी सम्भव होगा, जब अपने लिये कुछ भी करना शेष न रहे, कारण कि अपने लिए कुछ करता है, यह स्वीकार करते ही कर्म सामग्री का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। सामग्री का आश्रय लेते ही साधक का मूल्य परिस्थिति से घट जाता है और फिर वह परिस्थितियों का दास हो जाता है। परिस्थितियों की दासता साधक को न तो उदार होने देती है और न स्वाधीन रहने देती है। उदारता और स्वाधीनता के बिना जीवन जगत के लिए और अपने लिए उपयोगी नहीं हो सकता।

(२) जगत के लिए उपयोगी होना

अपने लिये उपयोगी होने पर जीवन जगत और जगतपति के लिए उपयोगी होता है, यह निर्विवाद सत्य है, परन्तु अब विचार यह करना है कि जगत के लिए उपयोगी होने के लिए साधक में किन [illegible] की अभिव्यक्ति होती है। इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जब साधक अपने लिए उपयोगी हो जाता है, तब उसे मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि की कामना नहीं रहती। उसका परिणाम यह होता है कि उसके द्वारा मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं होता, अपितु यथाशक्ति उनका सदुपयोग होने लगता है। इतना ही नहीं, बुराई के बदले में भी [illegible]

अपने लिए नही ह। अपने लिए एक मात्र चिर विश्राम ही उपयोगी है। विश्राम की उपलब्धि विचार-सिद्ध है। विचार का उदय शारीरिक श्रम से नही होता, अपितु निज ज्ञान के आदर में ही निहित ह, जो साधक को अपने ही द्वारा करना ह। ज्ञान का आदर श्रम-साध्य उपाय नही ह, अपितु श्रम-रहित होने पर ही ज्ञान का प्रकाश स्पष्ट होता ह। ज्ञान अज्ञान का नाशक तथा अपने ही द्वारा अपने आप का प्रकाशक ह। ज्ञान से ही सभी प्रकाशित होते ह और ज्ञान को कोई अन्य प्रकाशित नही करता। जिससे सब कुछ जाना जाता है, उसको किसी अन्य के द्वारा नहीं जाना जाता। अत अपने लिए कोई कृति अपेक्षित नहीं है। निज ज्ञान के आदर मात्र से ही साधक देहाभिमान

देती। इसका परिणाम यह होता है कि यह दूसरा पर शासन करने लगता है जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। [illegible] के द्वारा समाज में से अकर्तव्य का [illegible] नहीं हुआ, यह सभी विचारशीलों का अनुभव है। मूल-जनित वेदना से ही मानव बुराई-रहित होता है। [illegible] पर ही मूल-जनित वेदना [illegible] होता है जो कर्त्तव्य-निष्ठ बनाने में [illegible] है। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है कि [illegible] को समाज के प्रति बुराई [illegible] है, अपितु अपने प्रति होने वाली [illegible] का उत्तर भी बुराई से नहीं देना है। [illegible] विचार यह है कि कोई [illegible] बुराई क्यों [illegible] है। कम [illegible] का चित्र है और नहीं, अर्थात् [illegible] में से कम [illegible]

बुराई करने लगता है। बुराई-रहित होना त्याग है, कर्म नहीं। बुराई रहित होने का परिणाम स्वत भलाई होना है। यह सेवा है, कर्म नहीं। सेवा जगत के लिए और त्याग अपने लिए उपयोगी है। सेवा और त्याग दोनों ही दैवी सम्पत्ति है, मनुष्य की उपार्जित नहीं हैं किन्तु प्रमादवश साधक आरोप कर लेता है कि मैंने त्याग किया है और मैं सेवा करता हूँ। जब अपना करके अपने में कुछ है ही नहीं, तो त्याग कैसा, और जो वस्तु जिसकी है, उसे मिल गई तो सेवा कैसी? सेवा और त्याग तो वैज्ञानिक तथ्य है, जो स्वत सिद्ध है। उनमें करने-कराने का अभिमान भूलजनित है। 'अपने लिए अपने को कुछ नहीं करना है', यह अपना लेने पर ही जीवन निर्ममता, निष्कामता एवं अधिकार-लोलुपता से रहित हो

करने में मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है, परंतु अपने को साधक स्वीकार किये बिना परिस्थिति में जीवन-बुद्धि उत्पन्न होती है, जिससे होने से मानव परिस्थितियों का दास हो जाता है और फिर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता और अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन में आबद्ध हो जाता है जो विनाश का मूल है। परिवर्तनशील परिस्थिति मानव का जीवन नहीं हो सकती, कारण कि जीवन अविनाशी है, विनाशी नहीं। अविनाशी जीवन की उपलब्धि किसी परिस्थिति विशेष से सम्बन्ध नहीं रखती। इसी कारण सभी परिस्थितियों में साधक को जीवन की उपलब्धि हो सकती है। इस दृष्टि से साधक का अपना मूल्य प्रत्येक परिस्थिति से अधिक है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक का

अपनी प्रजा का निर्दोष न बना सका, यह अनुभव सिद्ध सत्य है। निर्दोष जीवन से ही समाज में निर्दोषिता व्यापक होती है। निर्दोष साधक दोष-युक्त मानव को देख करुणित होता है, क्षोभित नहीं। उसे पर-दुख अपना ही दुख प्रतीत होता है और करुणित होकर उसके प्रति क्रियात्मक तथा भावात्मक सहयोग देने के लिए तत्पर हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि अपराधी स्वयं अपने अपराध को देख निर्दोष होने के लिए आकुल तथा व्याकुल हो जाता है, और फिर वह बड़ी सुगमतापूर्वक वर्तमान निर्दोषिता को सुरक्षित रखने में समर्थ होता है। इस प्रकार साधन-निष्ठ जीवन से समाज में निर्दोषिता व्यापक होती है।

बल का दुरुपयोग न करने से ही कर्त्तव्य-परायणता आती है और फिर

अपने को बुरा बनाता है, पर उसे इस बात का स्वयं पता नहीं रहता कि बुराई का प्रतिकार करने के लिए म स्वयं बुरा हो गया। बुराई का प्रतिकार, प्राकृतिक नियमानुसार बुराइ करना नहीं है, अपितु क्षमाशील होकर, करुणित होकर उसके प्रति भलाइ करना अथवा हित कामना करना है। सभी के प्रति हित कामना, बिना स्वीकार किये निर्दोषता व्यापक नहीं हो सकती। इस कारण बुराइ-काल में ही यदि हम उसे बुराई न करने दें, आत्मीयता पूवक आदर और प्यार दें, करुणित होकर उसकी भूल से स्वयं दुखी हो जाय, उसके कत्तव्य की ओर संकेत करें तथा उसे उसकी महिमा से परिचित कर हृदय से लगायें, तो वह अवश्य, बुराई-रहित हो जायगा। अधिकतर तो सुनकर अथवा अनुमान मात्र से ही

के लिए मिट जाती है। यह मंगलमय विधान है। इस विधान का आदर करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। अत बुराई करने का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जब साधक इस महामंत्र को अपना लेता है तब बुरा नहीं रहता और जब बुरा नहीं रहता तब बुराई की उत्पत्ति ही नहीं होती, जिसके न होने पर कर्त्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है, यह निर्विवाद सत्य है। बुराई न करने का व्रत साधक को वर्तमान निर्दोषता से अभिन्न करता है। इस कारण उसके अहम् में से यह धारणा सदा के लिए निकल जाती है कि मैं बुरा हूँ। प्राकृतिक नियमानुसार व्रत में से ही प्रेम की उत्पत्ति होती है। जब साधक वर्तमान निर्दोषता के आधार पर अपने को निर्दोष स्वीकार

होती है। सामर्थ्य का सदुपयोग असमर्थ की असमर्थता मिटाने मे है, किसी को असमर्थ बनाने मे नही। पर इस वास्तविकता को भूल जाने से सामर्थ्य का दुरुपयोग रोकने के लिए मिली हुई सामर्थ्य द्वारा उसे असमर्थ बनाते है। उसका परिणाम कभी भी हितकर नही होता। थोडी देर के लिए ऐसा प्रतीत होने लगता है कि बलपूर्वक सामर्थ्य का दुरुपयोग रोक दिया, पर वास्तव में ऐसा होता नही। सामर्थ्य के दुरुपयोग से सभी में असमर्थता की ही वृद्धि होती है और उसकी प्रतिक्रिया सामर्थ्य का दुरुपयोग करने के लिए ही प्रेरित करती है। अत सामर्थ्य का उपयोग असमर्थता के मिटाने मे है, किसी को असमर्थ बनाने में नही। अब विचार यह करना है कि व्यक्ति, तथा समाज में

निष्ठा रहनी चाहिए। यह तभी सम्भव होगा, जब वह वर्तमान निर्दोषता के आधार पर किसी को बुरा न समझे, और न किसी का बुरा चाहे, एवं न किसी के साथ बुराई करे। ऐसा होने पर ही सुगमता पूर्वक जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है, अथवा यों कहो कि जगत् के अधिकार की रक्षा हो जाती है। साधक पर जगत् और जगतपति दोनों का ही अधिकार है। अपने लिए उपयोगी हो जाने पर, अपने अधिकार का प्रश्न ही शेष नहीं रहता किन्तु साधक के प्रति जगत् की उदारता और जगतपति की कृपालुता सदैव रहती है, यह मंगलमय विधान है।

किसी भी साधक को किसी को बुरा समझने का अधिकार ही नहीं है, कारण कि दूसरे के सम्बन्ध में पूरा जानना

आप पराधीनता में जीवन बुद्धि स्वीकार करता है और जन्मजात स्वाधीनता से विमुख हो जाता है। जिसमें पराधीनता नहीं रहती, वह असमर्थ नहीं रहता और जो असमर्थ नहीं रहता, वह मिली हुई सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करता। इस दृष्टि से पराधीनता का सर्वांश में नाश करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से प्राप्त साधन निधि से ही सम्भव है।

पराधीनता से ही विवश होकर मानव वह करने लगता है, जो नहीं करना चाहिए। उससे उत्तरोत्तर पराधीनता की ही वृद्धि होती है। वास्तव में तो जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने में ही मानव की स्वाधीनता है और इसी प्रयोग से पराधीनता नष्ट होती है। इस दृष्टि से स्वाधीनता पूर्वक ही स्वाधीनता की

वि-दोष का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जब अपराधी भूल जनित दोष से पीड़ित होता है, तब उसमें से दोष जनित सुख-लोलुपता मिट जाती है, जिसके मिटते ही पुनः दोष न दुहराने की तीव्र माँग जागृत होती है। पर, जब उसे दूसरा अपराधी मानने लगता है, तब वह क्षुभित तथा क्रोधित होकर दूसरों के दोष देखने लगता है। दूसरों का दोष देखते ही अपने में से दोषी होने की वेदना शिथिल होने लगती है। इससे उसका और दूसरों का अहित ही होता है। इसी कारण दूसरों के द्वारा किया हुआ न्याय निर्दोषता की स्थापना नहीं कर पाता। परन्तु जब वर्तमान निर्दोषता के आधार पर अपराधी को कोई दोषी नहीं मानता, तब अपराधी स्वयं भूतकाल की भूल को दुहराने के लिए

यद्यपि किसी का बुरा चाहने से उसका बुरा हो नहीं जाता, परन्तु बुरा चाहने से बुरा चाहने वाले की बहुत भारी क्षति होता है। इतना ही नहीं, बुराई करने पर तो करने वाले में परिवर्तन भी आता है और वह बुराई करने से अपने को बचाने का प्रयास भी करने लगता है, किन्तु बुरा चाहने से तो भाव में अशुद्धि आ जाती है। भाव कर्म की अपेक्षा अधिक विभु और स्थायी होता है। इस कारण बुरा चाहने से बुराई करने की अपेक्षा अधिक क्षति होती है। जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसमें सर्वहितकारी भावना तथा करुणा स्वत जागृत होती है। इस दृष्टि से बुरा चाहने की प्रवृति सर्वथा त्याज्य है। जब साधक किसी का बुरा नहीं चाहता तब उसके प्रति भी करुणा जागृत होती है।

से सवार्ग में कोई दोषी होता ही नहीं, यह प्राकृतिक सत्य है। अतः किसी को बुरा समझना बुराई करने की अपेक्षा गुरुतर भूल है। किसी मे बुराई की स्थापना करना उसके लिए और अपने लिए अहितकर ही है। किसी को बुरा समझने पर अपने में अशुद्ध सकल्पो की उत्पत्ति होती है और क्षोभ तथा क्रोध उत्पन्न होता है जो कर्त्तव्य की विस्मृति में हेतु है। अशुद्ध सकल्पो से किसी न किसी अश में अशुद्ध कर्म होने ही लगता है। इस दृष्टि से दूसरों को बुरा समझने से अपने मे बुराई उत्पन्न हो जाती है। यदि किसी को कोई बुरा न समझे, तो उसमे अशुद्ध सकल्प उत्पन्न नही होते और न वैर-भाव की उत्पत्ति होती है, अपितु समता आ जाती है, जिसके आते ही

का कोई अधिकार नहीं है। इतना ही नहीं पर-चिन्तन मात्र से ही साधक का अहित होता है। यद्यपि किसी न किसी नाते सभी अपने हैं परन्तु जिसके नाते सभी अपने हैं, अपना तो वही है। अपने की प्रियता और उसके नाते सभी की सेवा ही तो साधक का जीवन है। सेवा तभी सिद्ध होती है जब शासन की भावना का सर्वांश में नाश हो जाय। सेवक शासन नहीं करता और शासक सेवा नहीं कर पाता। किसी को बुरा समझना, किसी का बुरा चाहना और किसी के प्रति किसी भी कारण से बुराई करना शासन की प्रवृत्ति है, सेवा नहीं। शासक शोषित का विकास नहीं कर पाता। सेवक के द्वारा सभी का विकास होता है। साधक सभी के लिए उपयोगी हो, यही तो उसकी

प्रदान करे। इस कारण किसी को बुरा समझना, किसी का बुरा चाहना और किसी के प्रति बुराई करना सर्वथा त्याज्य है। यही सर्वांश में बुराई-रहित होने का अचूक उपाय है। बुराई-रहित जीवन की माँग सदैव सभी को रहती है और बुराई-रहित जीवन में ही साधक का सर्वतोमुखी विकास होता है। इस दृष्टि से बुराई रहित होना वर्तमान का प्रश्न है जो एकमात्र साधन-निधि के सम्पादन से ही सम्भव है। साधन-निधि में ही साधक का जीवन और साध्य की प्रसन्नता निहित है। साधन-निधि प्रत्येक साधक को उपलब्ध हो सकती है, कारण कि उसका निर्माण ही साधन-निधि के लिए हुआ है। उससे निराश होना, अपने को उसका अधिकारी न मानना, साधक की ही भारी भूल है,

साधक विश्वासी हो जाता है। विश्वासी विश्वास-पात्र से भिन्न की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार ही नहीं करता। तब विश्वासी में स्वतः स्मृति जागृत होती है जिसके होते ही विश्वास-पात्र से भिन्न की विस्मृति हो जाती है। फिर स्मृति विश्वासी को विश्वास-पात्र की प्रीति से अभिन्न कर देती है,-अर्थात् विश्वासी का अस्तित्व प्रीति से भिन्न कुछ नहीं रहता। प्रीति स्वभाव से ही दूरी, भेद, भिन्नता को नहीं रहने देती, अर्थात् योग, बोध और प्रेम जो विश्वास-पात्र का स्वभाव है, विश्वासी उसी से अभिन्न हो जाता है, पर आस्था, श्रद्धा, विश्वास के बिना कोई भी साधक विश्वास पात्र से आत्मीयता स्वीकार नहीं कर सकता। आत्मीयता में ही अगाध निहित है जो श्रद्धास्पद को

उत्पन्न होता है कि जब सबल निबलों को सता रहे हैं तब बेचारा निर्बल कैसे किसी को बुरा न समझें, तथा किसी का बुरा न चाहे। इस समस्या पर विचार करने पर ऐसा विदित होता है कि सबल निबल के प्रति बल का दुरुपयोग तभी करता है जब किसी को निर्बल पाता है। यदि जीवन में निबलता न रहे तो सबल अत्याचार नहीं कर सकता, यह निर्विवाद सिद्ध है। सब से बड़ी निर्बलता जीवन में कब आती है? जब मानव प्रसन्नता पूर्वक मृत्यु को नहीं अपनाता अपितु सबल के अत्याचार को स्वीकार कर जीना चाहता है। इस निबलता ने ही सबल की बल के दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति को पोषित किया है। मानव को अपना लक्ष्य अपने प्राणों से अधिक प्रिय होना चाहिए। लक्ष्य

के लिए प्रत्येक परिस्थिति में नित्य, नव उत्साह तथा उत्कंठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिये, परन्तु जब साधक अपनी ही भूल से अपने को असमर्थ बना लेता है तब कभी-कभी अपने लक्ष्य से निराश होने लगता है पर जब अपने रचयिता की महिमा में अविचल श्रद्धा तथा विश्वास करता है, तब निराशा आशा में परिणत हो जाती है और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए परम व्याकुलता जागृत होती है जो सफलता की कुंजी है। मानव का जो लक्ष्य है उससे उसकी देश, काल आदि की दूरी नहीं है, कारण कि लक्ष्य वही हो सकता है जो उत्पत्ति विनाश रहित, सर्वत्र, सदा विद्यमान है। जो मौजूद है उसकी प्राप्ति वर्तमान में हो सकता है। अब विचार यह करना है कि जो मौजूद है --

ही भौतिक बल क्यो न हो, यदि मानव साधक होकर साधननिष्ठ हो जाता है, तब किसी सबल का अत्याचार उसे अपनी निष्ठा से विचलित नही कर सकता, उसके शरीर आदि वस्तुओ का भले ही नाश कर दे। बल के दुरुपयोग से उसे कोई अपने अधीन नहीं कर सकता। साधन निधि से सम्पन्न साधक की दृष्टि में शरीर आदि वस्तुओ का नाश कुछ अर्थ नहीं रखता, कारण कि वह अविनाशी जीवन से अभिन्न हो जाता है। इतना ही नही, सर्वात्म भाव होने के कारण वह बल के दुरुपयोग करने वाले पर भी अपने प्राणों की आहुति देता हुआ उसकी हित कामना से उस पर विजयी होता है। प्राकृतिक नियमानुसार बल का दुरुपयोग निर्बलता को जन्म देता है, अर्थात् सबल बल के दुरुपयोग के कारण स्वयं

जब श्रद्धा, विश्वास पूर्वक सर्व-समर्थ की निर्भरता स्वीकार करता है तब स्वतः वे अपनी अहेतुकी कृपा से प्रेरित हो अपना लेते हैं और फिर दूरी, भेद, भिन्नता शेष नहीं रहती। समर्थ कहते ही उसे हैं जो सभी को अपना सके। जिसने अपने ही में से सभी का निर्माण किया है, उससे निर्मित समस्त विश्व उसी के एक अंश मात्र में है। इस दृष्टि से हम सब उन्हीं में हैं और वे सभी में होते हुए भी सभी से अतीत भी हैं। उनकी महिमा का कोई वारापार नहीं है। उनकी महिमा की विस्मृति ने ही असमर्थ साधक में निराशा उत्पन्न की है। यदि साधक उनकी महिमा में अविचल आस्था कर सब प्रकार से उनका हो जाय तो बड़ी सुगमता-पूर्वक लक्ष्य को प्राप्त कर कृत-कृत्य हो सकता है। साधक का लक्ष्य

भी यह बना रहे, यह कामना करना और शरीर को बनाये रखने के लिए सब कुछ सहन करना कहाँ तक न्याय-युक्त है ? इस पर विचार करने से यही विदित होता है कि शरीर का उपयोग विश्व की सेवा में है, उसके द्वारा कामना-पूर्ति में सुख का प्रलोभन रखना भूल ही है। शरीर के न रहने पर भी जीवन है तो फिर शरीर को बनाये रखने की कामना क्या अर्थ रखती है ? कुछ नहीं। जिसे अपना कर्तव्य प्राणों से अधिक प्रिय है, उसे कोई भी सामर्थ्यवान कर्तव्य से च्युत नहीं कर सकता। अतएव बल का दुरुपयोग उन्हीं पर विजयी होता है जो अपने कर्तव्य को प्राणों से अधिक नहीं मानते। प्राणों का मूल्य कर्तव्य से कम है। कर्तव्य-पालन के लिए प्रसन्नता पूर्वक प्राणों का त्याग

है। यह असमर्थता साधक ने अपनी भूल से उत्पन्न की है, किन्तु असमर्थता से पीड़ित होकर जब वह सब समर्थ की ओर एक बार भी देखता है तो वे उसकी असमर्थता का अपहरण कर उसे अपना लेते हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। सब-समर्थ, साधक का भूतकाल नहीं देखते। उसकी वर्तमान वेदना से ही करुणित हो अपना लेते हैं। पर वह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने अपनी असमर्थता का अनुभव किया है और उनकी महिमा को स्वीकार किया है। जिसे अपना कोई और प्रतीत नहीं होता, जिसे अपने में अपना करके कोई गुण नहीं दिखाई देता और जो लक्ष्य से निराश नहीं होता, वह बड़ी ही सुगमता पूर्वक उनकी महिमा को स्वीकार कर उन पर निर्भर हो जाता है। निर्बलता की पीड़ा में

प्रादुर्भाव के लिए यह अनिवार्य है कि साधक किसी को बुरा न समझे, किसी का बुरा न चाहे एवं किसी के प्रति बुराई न करे, अर्थात् बुराई रहित होकर सभी के लिए उपयोगी होने में ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

(३) प्रभु के लिये उपयोगी होना

अपने लिए तथा जगत् के लिए उपयोगी होने पर अपने रचयिता के लिए उपयोगी होने का प्रश्न स्वतः आ जाता है। सिद्धान्त रूप से ही यह सर्वथा मान्य है कि अपने लिए और जगत् के लिए उपयोगी होने पर अपने रचयिता के लिए उपयोगी होना स्वाभाविक ही है परन्तु फिर भी यदि इस समस्या पर विचार किया जाय कि साधक अपने रचयिता

अपने लिए उपयोगी होता है। बेचारा भोगार्थी तो सुख की दासता तथा दुःख के भय में ही आबद्ध रहता है, अर्थात् वह अपने ही लिए अनुपयोगी हो जाता है। यद्यपि मानव-जीवन सभी के लिए उपयोगी होने के लिये मिला है परन्तु मानव अपने लक्ष्य की विस्मृति से अपने आप अपनी दुर्दशा कर लेता है। यदि साधक बीज रूप से विद्यमान माँग को जागृत कर असमर्थ एवं भयभीत दशा में भी अपने रचयिता की महिमा को स्वीकार करे तो उसे भी वही जीवन मिल सकता है जो किसी भी महामानव को मिला है, कारण कि लक्ष्य से मानव की जातीय तथा स्वरूप की एकता है। बेचारा प्रमादवश मानव-जीवन की महिमा नहीं अपनाता, यह उसकी अपनी बनाई

पराधीनता, अभाव तथा नीरसता का अन्त नहीं कर सकती। तब स्वभाव से ही उस सुने हुए प्रभु की ओर आकर्षण होना है जिसे देखा नहीं, अपितु सन्तों, भक्तों तथा सद्‌ग्रन्थों से सुना है। सुने हुए में आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है, कारण कि आत्मीयता से ही प्रियता की अभिव्यक्ति होती है, अथवा यों कहो कि साधक जिसे अपना कह कर स्वीकार करता है तथा जिसकी आवश्यकता अनुभव करता है, उसकी अखंड स्मृति स्वतः जागृत होती है। ऐसा होते ही इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी कारण अपने अपने विषय से विमुख हो स्मृति में विलीन हो जाते हैं और फिर आत्मीयता से जागृत प्रियता ही शेष रहती है। प्रियता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है

गया ? इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि साधक अपने रचयिता की महिमा को स्वीकार कर शरणागत नहीं हुआ। अथवा यों कहो कि मिली हुई स्वाधीनता आदि को अपना मान लिया। उसी कारण निज मान का अनादर कर विकारों में आबद्ध हो गया। जब तक साधक मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य को किसी की देन नहीं मानगा और अपने आश्रय तथा प्रकाशक को स्वीकार नहीं करेगा तब तक अहम् भाव के कारण मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग कर सकता है। इस कारण अपने आश्रय की आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक शरणागति स्वीकार करना अनिवार्य है। शरणागति स्वीकार करते ही 'यह' और 'मैं' दोनों पर शरण्य की सील लग जाती है जिसके लगते ही अपने में अपना करके कुछ नहीं

रखता है तब तक विश्वासी और विश्वास में भेद प्रतीत होता है। अब यदि कोई यह कहे कि विश्वासी तो विश्वास से पूर्व भी अपना अस्तित्व स्वीकार करता था, इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रभु विश्वासी अन्य विश्वासों को त्याग अपने द्वारा प्रभु विश्वास को स्वीकार करता है, अर्थात् विश्वास की स्थापना विश्वासी अपने में करता है, जिसके करते ही विश्वास-पात्र से नित्य सम्बन्ध सिद्ध होता है और फिर विश्वासी में अखंड स्मृति जागृत होती है। स्मृति जिसमें जागृत होती है, उसे अपने से अभिन्न कर लेती है, अर्थात् स्मृति-मात्र ही उसका अस्तित्व रह जाता है, पर जिसके प्रति होती है उसके लिये रस-रूप होती है। यह स्मृति की महिमा है। इतना ही नहीं, स्मृति में उसी की सत्ता,

अर्थात् वह अपने लिए जगत् की ओर नही देखता। जगत् की ओर से आया हुआ मान और भोग भी उसे सतुष्ट नही कर पाता। तब साधक अत्यन्त व्याकुल हो उस जीवन के लिए आकुल हो जाता है जिसमें किसी प्रकार की नीरसता, पराधीनता तथा अभाव नही है अर्थात् अत्यन्त दु ख की निवृत्ति ही उसकी माँग रह जाती है पर उसकी पूर्ति के लिए स्वय कुछ नही कर सकता। उस माँग मात्र को देख, कोई उस का अपना है जिसको उसने स्वीकार भी नहीं किया, उसकी माँग की पूर्ति कर देता है। जिसके होते ही अहम् नाश हो जाता है।

परम व्याकुलता की जागृति पुरुषार्थ की समाप्ति में होती है अर्थात् व्याकुलता से जिसकी उपलब्धि होती है वह पुरुषार्थ-

स्वीकार करने का [illegible] आस्था है।
साधक ने जिसमें [illegible] है वह बसा है
कहाँ है, क्या [illegible] आवश्यक
नहीं है, कारण कि [illegible] का आश्रय तथा
प्रकाशक अद्वितीय है [illegible] अपने में सब
का निर्माण किया है और अपने ही में सब
को आश्रय दिया है। [illegible] सम्बन्ध
जिस किसी ने जो [illegible] है, वह
दृष्टि से सही [illegible] है,
कि विश्व-नियन्ता [illegible] है। [illegible]
मानव उसके सम्बन्ध में सीमित [illegible]
जितना कहेगा, [illegible] अर्थात् [illegible]
रचयिता का वर्णन [illegible] रचना [illegible]
सकती, किन्तु [illegible] अविचल [illegible]
कर सकता है। [illegible]
करना [illegible] में
[illegible]

उसका स्वभाव है। माँग जिसकी होती है उसमें विलीन होते ही सीमित अहम् भाव सदा के लिए नष्ट हो जाता है, तब किसी प्रकार की पराधीनता, अभाव तथा नीरसता शेष नहीं रहती। इस दृष्टि से वास्तविक माँग की जागृति में ही जीवन की पूर्णता निहित है। जिसने साधक का निर्माण किया है उसी ने माँग प्रदान की है और वही पूर्ति करता है। उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना अथवा उसकी दी हुई माँग के लिए परम व्याकुल होना, दोनों ही प्रकार से साधक साधन-निष्ठ हो कृत-कृत्य हो जाता है। अतः अपने रचयिता में आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना यद्यपि साधक के लिए स्वाभाविक है, परन्तु यदि कोई साधक अपने रचयिता में आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना स्वीकार नहीं

स्वय प्रदान करते रहते है। सेवा के द्वारा वे साधक के जीवन को विश्व के लिए उपयोगी सिद्ध करते हैं, यह उनकी महिमा है। सेवा पराधीनता से स्वाधीनता की ओर स्वत अग्रसर कर देती है, जिससे साधक अपने लिए उपयोगी हो जाता है। उसमे किसी प्रकार की पराधीनता नही रहती। विश्वासी साधक स्वाधीनता का आश्रय पाकर सन्तुष्ट नही होता अपितु अपने विश्वास पात्र की आत्मीयता से जागृत प्रियता ही उसे भाती है जिससे साधक का जीवन अपने रचयिता के लिए उपयोगी होता है। इस दृष्टि से साध्य की अहेतुकी कृपा से निर्मित साधक सभी के लिए उपयोगी हो जाता है। यह वास्तव में साध्य की ही महिमा है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते है, जिन्होंने आस्था,

को साधक स्वीकार कर लेता है वह सत्-संगी होकर, उत्पन्न हुए वस्तु व, अवस्था तथा आसक्तियों से रहित हो साधन-निधि से सम्पन्न होता है। साधन-निधि साधक की उपज नहीं है, अपितु स्वतः है। खोज से वही उपलब्ध होता है जो सदैव, सर्वत्र विद्यमान है। साधन-निधि साध्य का स्वभाव है और साधक का जीवन है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साधन-निधि से अभिन्न हो साध्य को पाता है।

सत्संग साधक का सहज तथा स्वाभाविक स्वधर्म है। उसके अपनाने में किसी प्रकार का असमर्थता तथा पराधीनता नहीं है, परन्तु साधन तथा असाधन के द्वन्द्व में आबद्ध प्राणी सर्वांश में जब तक सत्संग का प्रयोग किया कर पूर्वक अपने में साधनों का आरोप कर

जाता है और फिर साधक सनाथ होकर कृत-कृत्य हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है।

यदि कोई मानव बिना देखे, सुने हुए विश्व-नियन्ता में आस्था, श्रद्धा, विश्वास नही कर सकता तो फिर उसके जीवन में आस्था, श्रद्धा, विश्वास करने के लिए कोई स्थान ही नही रहता। विश्वास से सम्बन्ध की स्थापना होती है और सम्बन्ध से स्मृति जागृत होती है। यदि मानव मिले हुए शरीर तथा देखे हुए ससार पर विश्वास करेगा तो उसमें अनेक आसक्तियो की उत्पत्ति होगी पर मिले हुए शरीर आदि को भी न रख सकेगा। केवल लोभ, मोह, दीनता, अभिमान, परिच्छिन्नता आदि विकारों में ही आबद्ध हो जायगा। इस दृष्टि से सुने हुए प्रभु से भिन्न कोई आस्था, श्रद्धा, विश्वास के योग्य नही है। अब यदि कोई

दु ख का आना यह वधानिक तथ्य है अर्थात्
सुख जाता ही है और दु ख आता ही है।
इस विधान में मानव का अमगल नही है
अपितु मगल ही है। यदि आया हुआ
सुख न जाता तो जडता का कभी नाश न
होता और यदि दु ख न आता तो कोई भी
सजगता पूर्वक दु ख निवृत्ति के लिए तत्पर
न होता। यदि दु ख का अन्त सुख
में हो जाता और पुन सुख नवीन दु ख को
जन्म न देता, तो मानव साधक होने के
लिए कभी तत्पर ही न होता और साधक
बिना हुए सत्सग का प्रश्न ही न आता
तथा सत्सग के बिना साधन निधि की
अभिव्यक्ति ही न होती। ऐसी दशा में
मानव अपने परम सुहृद रचयिता से विमुख
ही रहता। इस दृष्टि से सुख का चला
जाना और दु ख का आना मगलकारी है।

हुए, मिली हुई वस्तु योग्यता, सामर्थ्य आदि का उपयोग नहीं करता, यही तब मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग है। मानव यह जानते हुए भी कि उसे ईमानदार, श्रमी, तथा हित चिंतक साथी चाहिए, वह स्वयं अपने साथियों के लिए वैसा नहीं होता। क्या यह मानव की अपनी ही भूल नहीं है? इस भूल के रखते हुए क्या कोई अपने सत्य को अपना सकता है? इस अपने सत्य को अपनाये बिना क्या कोई सुंदर हो सकता है? सुन्दर बिना हुए अपनी, समाज की तथा रचयिता की दृष्टि में क्या कोई आदर के योग्य हो सकता है? कदापि नहीं।

अपनी दृष्टि में अपने का आदर के योग्य वही रख सकता है, जिसने सत्संग से प्राप्त साधन निधि को अपनाया है।

निवृत्ति न होना अपने लिए अनुपयोगी होना सिद्ध करता है। जब तक मानव अपने लिए अनुपयोगी है, तब तक उसे सब ओर से विमुख होकर अपने लिए उपयोगी होने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना अनिवार्य है। उस दशा में पर पर दोष दर्शन के लिए साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है कारण कि पर-दोष दर्शन करने से अपने दोषों का स्पष्ट दर्शन नहीं होता अपितु साधक अपनी दोष-युक्त दशा को सहन करता रहता है जो विकास में बाधक है। यह सभी को मान्य होगा कि प्रभु आत्मा और जगत के नाते सभी अपने हैं। फिर सभी के प्रति अपने समान उदारता और अपने प्रति दूसरों के समान न्याय न करना भूल है जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं

सभी के लिये उपयोगी है। जब साधक मे निर्विकारता तथा उदारता की अभिव्यक्ति हो जाती है, तब उनमें निष्कामता तथा अपने अधिकार के त्याग का बल भी आ जाता है जिसके आते ही साधक में चिर शांति तथा राग से रहित स्वाधीनता की अभिव्यक्ति एवं क्रोध से रहित स्मृति की जागृति होती है, जिसके होते ही साधक को अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। अहंकृति रहित होते ही अहम् भाव रूपी अणु गल जाता है। फिर साधक की साध्य से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहती, अर्थात् योग, बोध प्रेम की प्राप्ति होती है अथवा यों कहो कि साधन-निधि से अभिन्नता हो जाती है। यह मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग का परिणाम है। इस दृष्टि से मिली हुई स्वाधीनता के

जो मानव किसी अपराधी को भयभीत करता है और यह सोचता है कि भय देने से समाज में बुराई नही फलेगी, यह मान्यता भ्रमात्मक है। बुराई रहित होकर सभी को आदर, प्यार देने से ही समाज मे निर्दोषता व्यापक हाती है। जो प्राणी सूय का प्रकाश पाता ह जल जिसकी प्यास बुझाता ह वायु जिसको साँस लेने देती ह आकाश जिसे अवकाश देता है विश्व-नियन्ता की अहेतुकी कृपा जिसे अपनाने के लिए तत्पर है, क्या वह मानव की तुच्छ उदारता का अधिकारी नही ह? अवश्य है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता ह जब मानव अपन को साधक स्वीकार कर अपनी ओर देखे।

किस अपराधी न जगत् और

होती है, जिससे साधक के जीवन मे उदारता की अभिव्यक्ति होती है। उदारता के आते ही साधक की सभी के साथ आत्मीयता हो जाती है, अर्थात् वह अपने समान ही समस्त विश्व को मानने लगता है। किसी को भय नही देता और न किसी से भयभीत होता है। इतना ही नही, सभी की वर्त्तमान निर्दोषता मे अविचल आस्था रखता है। यदि कोई अपराधी अपनी भूल स्वय स्वीकार करे, तो भी वह उसे यही परामर्श देता है कि तुम स्वय की हुई भूल मत दुहराओ, वर्त्तमान तो निर्दोष है ही। इस भावना और प्रवृत्ति से अपराधी निरपराध होने मे तत्पर होता है। इस दृष्टि से उदारता साधक को जगत के लिए उपयोगी सिद्ध करती है। यदि कोई उस उदार साधक के साथ स्वय बुराई करे तो भी

इस दृष्टि मे साधक को सजगता पूर्वक दूसरो के लिए उपयोगी होकर अपने लिए उपयोगी होना और अपने लिए उपयोगी होकर सभी के लिए उपयोगी होना अनिवार्य है। यह सभी को मान्य होगा कि साधक का अस्तित्व जगत और जगत्पति से भिन्न नही है। जिस किसी मे जो कुछ है वह जगत और जगत्पति का ही है। यदि साधक के शरीर का सम्बन्ध जगत से है तो उसका सम्बन्ध जगत्पति से है। यदि अपने को जगत्पति को अर्पित करना है, तो शरीर को जगत की सेवा में लगाना है। वास्तव मे तो जगत जगत्पति का ही प्रकाश है। शरीर द्वारा जगत की सेवा करने मे भी जगत्पति की ही सेवा है। जगत्पति ने जगत का निर्माण अपने ही में से किया है। इस दृष्टि से जगत का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व

होने पर साधक को यह भास नहीं होना कि मुझ में उदारता है। अपने में गुणों का भास होना तो अपने लिए अनुपयोगी होना है, कारण कि गुणों का आश्रय लेकर अहम् भाव रूपी अणु पोषित होता है और गुणों का भास पर-दोष दर्शन को जन्म देता है जो विनाश का मूल है। अपने लिए उपयोगी होने पर दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों का अभिमान नहीं रहता अथवा यों कहो कि साध्य की महिमा ही साधक के द्वारा प्रसारित होती रहती है, कारण कि उपयोगी साधक में अपने में अपना करके कुछ नहीं रह जाता। साधन निधि साध्य ही का तो स्वभाव है, और वही साधक का जीवन है। साधन और जीवन में भिन्नता अनुपयोगी दशा में ही शेष रहती है। उपयोगी होने पर साधन और

में जगत् के प्रति उदारता और जगत्पति के प्रति प्रियता की जागृति होती है। मानव का निर्माण उसके रचयिता ने साधन निधि से सम्पन्न होने के लिए ही किया है। उसी कारण मानव को सत्संग की स्वाधीनता दी है। पर मानव मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग कर असत् के संग से सभी के लिए अनुपयोगी हो गया है। अनुपयोगी होने पर प्रभु की अहेतुकी कृपा से दुःख का प्रादुर्भाव होता है। जब साधक दुःख के प्रभाव से प्रभावित होकर असत् के संग का त्याग कर सत् का संगी हो जाता है, तब शीघ्रातिशीघ्र महा-महिम की कृपालुता उसे अपना कर साधन निधि से सम्पन्न कर देती है और फिर साधक सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

होने पर साधक को यह भास नहीं होता कि मुझ में उदारता है। अपने में गुणों का भास होना तो अपने लिए अनुपयोगी होना है, कारण कि गुणों का आश्रय लेकर अहम् भाव रूपी अणु पोषित होता है और गुणों का भास पर-दोष दर्शन को जन्म देता है जो विनाश का मूल है। अपने लिए उपयोगी होने पर दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों का अभिमान नहीं रहता अथवा यों कहो कि साध्य की महिमा ही साधक के द्वारा प्रसारित होती रहती है कारण कि उपयोगी साधक में अपने में अपना करके कुछ नहीं रह जाता। साधन-निधि साध्य ही का तो स्वभाव है, और वही साधक का जीवन है। साधन और जीवन में भिन्नता अनुपयोगी दशा में ही शेष रहती है। उपयोगी होने पर साधन और

प्रार्थना (ख)

मेरे नाथ !

आप अपनी सुधामयी, सब समर्थ पतित-पावनी, अहेतुकी कृपा से मानव मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें, एवं हे करुणा सागर ! अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का नाश कर। सभी का जीवन सेवा, त्याग, प्रेम म परिपूर्ण हो जाय।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ संख्या
आयश्यक	आवश्यक	३५
की	का	३६
रहता हैं	रखती है	३६
सघप	सघप	·९
सतत	सतत	४१
दूसरा	दूसर।	४३
जिसे	जिसके	४६
जीवन	जीवन	४७
यह्	इस	४८
ह	हैं	४९
पूवक	पूवक	५५
असगत	असगता	५५
अधिकार	अधिकारी	५६
सवध	सम्बध	५७

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ संख्या
वाला में हूँ	वाला मैं हूँ	२
किसी से साथ	किसी के साथ	४
जनन्त	अनन्त	१०
प्रकृति	प्रवृत्ति	१३
उत्कट	उत्लट	७४
उसमे	उससे	९८
अपना लेते हैं	उसे अपना लेते हैं	९९
वह	यह	१०१
अन्य त्रिश्वासो	अन्य विश्वासों	१०९
अता	अत	११९
यही तब	तब यही	१३३
उद्‌मावना	सद्‌भावना	१४६

मानव सेवा संघ के अन्य प्रकाशन

हिन्दी	पृष्ठ संख्या	मूल्य
		रु० पै०
१ सन्त समागम (भाग १)	२१७	१ ५०
२ सन्त समागम (भाग २)	३५७	२-००
३ मानव की माँग	२४४	२-००
४ जीवन दर्शन (द्वितीय संस्करण)		२-१०
५ साधन तत्त्व (सजिल्द)	१०४	१-२५
६ चित्त शुद्धि (द्वितीय संस्करण)		३-००
७ सत्संग और साधन	००	१-००
८ जीवन पथ	१४०	१-२५
मानवता के मूल सिद्धान्त	१२२	०-१०
१० दर्शन और नीति	१६४	१-१०
११ दुःख का प्रभाव	११६	१-२५
१२ मानव सेवा संघ (परिचय)	३२	०-१२

सूचना

राजस्थान राज्य द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत

१ सन्त समागम (भाग १)
२ सन्त समागम (भाग २)
३ मानव की माँग
४ जीवन-दर्शन
५ साधन-तत्त्व ६ चित्त शुद्धि

बिहार राज्य द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत

१ सन्त समागम (भाग १)
२ सन्त समागम (भाग २)
३ मानव की माँग
४ साधन तत्त्व
५ चित्त शुद्धि
६ सत्संग और साधन
७ दर्शन और नीति
८ दुःख का प्रभाव
९ जीवन पथ
१० जीवन दर्शन
११ मानवता के मूल सिद्धान्त